माँ का क्या होगा

प्रफुल्ल कोलख्यान

संतोष-सेतु जब टूट जाता है तब इच्छा का बहाव अपरिमित हो जाता है।

- बूढ़ी काकी: प्रेमचंद

भीष्म साहनी का महत्त्व

भीष्म साहनी हिंदी के महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण कथाकार की कथा कृतियों को बार-बार और अलग-अलग कोणों से देखने-परखने की जरूरत हुआ करती है। भीष्म साहनी उन थोड़े-से कथाकारों में हैं जिनके माध्यम से हम अपने समय की नब्ज पर भी हाथ रख सकते हैं और उनके समय की छाती पर कान लगाकर उनके समय के दिल की धड़कनें भी साफ-साफ सुन सकते हैं। क्योंकि, एक कथाकार के रूप में भीष्म साहनी 'वास्तविकता को गल्प में बदलने' की कला जानते हैं और संभवत: यह जानते हैं कि पाठक भी अंतत:, कई बार जान बूझकर और कई बार बिना जाने भी 'गल्प को वास्तविकता में बदलने' की प्रक्रिया अपनाता है। रचना प्रक्रिया और पाठ प्रक्रिया के बीच 'कोडिंग' और 'डिकोडिंग' रचन-संघर्ष और रचना-आस्वाद की सामाजिक प्रक्रिया है।

कहना न होगा कि आलोचना 'गल्प को वास्तविकता में बदलने' की प्रक्रिया को जीवन के बहुआयामी परिप्रेक्ष्य से जोड़ती है। जगजाहिर है कि भीष्म साहनी के पास समृद्ध विचार भी था और विचार के प्रति निष्कंप प्रतिबद्धता भी थी। लेकिन इस सबके रहते हुए भी जब एक रचनाकार रचने के लिए अपने को तैयार करता है तो अपने जीवन और अनुभव के

साथ अपने को बिल्कुल अकेला महसूस करता है। न विचार काम आते हैं और न प्रतिबद्धता! क्योंकि, 'अपने किसी अनुभव को लेकर अथवा किसी घटना से प्रेरणा लेकर जब लेखक कहानी लिखने बैठता है तो वह एक तरह से वास्तविकता को गल्प में बदलने के लिए बैठता है, यथार्थ को कला रूप देने के लिए। लेखक यथार्थ का दामन नहीं छोड़ता, और साथ ही साथ उसका कायापलट भी करने लगता है, ताकि वह मात्र घटना का ब्योरा न रहकर, कहानी बन जाए, कला की श्रेणी में आ जाए। इसी प्रक्रिया में से गुजरते हुए कभी-कभी ऐसे बिंदु पर पहुँचता है, जहाँ कलम रुक जाती है, लेखक नहीं जानता कि वह किस ओर को बढ़े, घटना अथवा अनुभव से जितना निबटना था निबट लिया। अब आगे क्या हो, कहानी में उठान कैसे आए, वह कहानी कैसे बने, यह बिंदु लेखक की सबसे कठिन घड़ी होती और सबसे बड़ी चुनौती होती है।'[1] भीष्म साहनी अक्सर ऐसी कठिन घड़ी में अपनी लेखकीय समझ की गहरी चुनौतियों से साहसपूर्वक जूझते हैं। साहस यह कि विचार के आधार पर उपलब्ध समाधान के समांतर जीवन के अनुभव से सिद्ध होकर हासिल होनेवाले अंतर्सुझावों की रचनात्मक खोज अपनी कहानियों में अनवरत जारी रखते हैं।

विचार रचनाकार को दृष्टि प्रदान करते हैं और प्रतिबद्धता दिशा का पता देती है लेकिन रचना के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए पथ का संधान और दृश्य का अभिधान लेखक को खुद तय करना पड़ता है। भीष्म साहनी के शब्दों में कहें तो 'प्रत्येक लेखक अंतत: अपने संवेदन, अपनी दृष्टि, जीवन की अपनी समझ के अनुसार लिखता है। हाँ, इतना जरूर कहूँगा कि मात्र विचारों के बल पर लिखी गई रचना, जिसके पीछे जीवन का प्रामाणिक अनुभव न हो, अक्सर अधकचरी रह जाती है।'[2] उन लेखकों की रचनाएँ 'अधकचरी' रह जाती हैं, जो लेखक पथ के संधान और दृश्य के अभिधान का जोखिम उठाने का साहस करने के बदले विचार को ही दृश्य मान लेने और प्रतिबद्धता को ही पथ मान लेने का आसान रास्ता अख्तियार करते हैं। भीष्म साहनी अपनी कहानियों की रचना में निरंतर जोखिम उठाते हैं। इसलिए, भीष्म साहनी की कहानियों में उनके समय का स्थूल भी है और सूक्ष्म भी है। कहना न होगा कि किसी भी महत्त्वपूर्ण रचना के कथ्य और शिल्प की बारीकियों को ठीक से समझने के लिए रचना पर से तत्काल के दबाव के कम होने का भी कई बार इंतजार करना पड़ता है। कुछ दबाव तो ऐसे होते हैं जो समय के बदलने के साथ भी रचना पर निरंतर बने रहते हैं। लेकिन ये ठीक उस अर्थ में तत्काल के दबाव नहीं होते हैं।

अनुभव की प्रामाणिकता और प्रामाणिक अनुभव

अनुभव की प्रामाणिकता और प्रामाणिक अनुभव में अंतर है। भीष्म साहनी जब 'जीवन के प्रामाणिक अनुभव' की बात करते हैं तो इस अर्थ में 'अनुभव की प्रामाणिकता' की बात नहीं करते हैं। कहना न होगा कि 'अनुभव की प्रामाणिकता' व्यक्ति अनुभव की प्रामाणिकता की बात करती है जबकि भीष्म साहनी व्यक्ति को अलग-थलग नहीं मानते हैं। उनकी 'धारणा

है कि साहित्य के केंद्र में मानव है, व्यक्ति है परंतु वह व्यक्ति अलग-थलग नहीं है – अपने में संपूर्ण इकाई नहीं है।'[3] इसलिए उनकी 'अधिकांश कहानियाँ यथार्थपरक रही हैं, मात्र व्यक्ति-केंद्रित अथवा व्यक्ति के अंतर्मन पर केंद्रित नहीं रही हैं, ... पात्रों के व्यवहार तथा गतिविधि पर बाहर की गतिविध का गहरा प्रभाव रहा है। बल्कि यदि कहें कि जिस विसंगति अथवा अंतर्विरोध को लेकर कहानी लिखी गई, वह मात्र व्यक्ति की स्थिति का अंतर्विरोध न होकर, उसके आसपास के सामाजिक जीवन का अंतर्विरोध होकर उसके व्यक्तिगत जीवन में लक्षित होता है तो कहना अधिक उपयुक्त होगा।'[4]

जाहिर है कि भीष्म साहनी के 'जीवन अनुभव' की प्रामाणिकता में अलग-थलग व्यक्ति के तथाकथित 'निजी अनुभव' की प्रामाणिकता से इतर एक महत् रचना की चुनौतियों के अनिवार्य 'जीवन-अनुभव' की व्यापक समझ का अर्थ समाहित है। प्रामाणिकता के इसी अर्थ में भीष्म साहनी विचार से समृद्ध और प्रतिबद्ध रचनाकार होने के साथ ही एक प्रामाणिक रचनाकार भी हैं। वे मानते हैं कि 'कहानी का सबसे बड़ा गुण, मेरी नजर में, उसकी प्रामाणिकता ही है, उसके अंदर छिपी सच्चाई जो हमें जिंदगी के किसी पहलू की सही पहचान कराती है और यह प्रामाणिकता उसमें तभी आती है जब वह जीवन के अंतर्द्वंद्व से जुड़ती है। तभी वह जीवन के यथार्थ को पकड़ पाती है। कहानी का रूप सौष्ठव, उसकी संरचना, उसके सभी शैलीगत गुण, इस एक गुण के बिना निरर्थक हो जाते हैं। कहानी जिंदगी पर सही बैठे, यही सबसे बड़ी माँग हम कहानी से करते हैं। इसी कारण हम किसी प्रकार के बनावटीपन को स्वीकार नहीं करते – भले ही वह शब्दाडंबर के रूप में सामने आए अथवा ऐसे निष्कर्षों के रूप में जो लेखक की मान्यताओं का तो संकेत करते हैं, पर जो कहानी में खप कर उसका स्वाभाविक अंग बन कर सामने नहीं आते। प्रामाणिकता कहानी का मूल गुण है। कहानी में यह गुण मौजूद है तो कहानी कला के अन्य गुण उसे अधिक प्रभावशाली और कलात्मक बना पाएंगे। प्रामाणिकता कहानी की पहली शर्त्त है।'[5]

भीष्म साहनी की कहानियों की बारीकियों को भारतीय कथा के विकास क्रम में रखकर ही समझा जा सकता है। प्रेमचंद के कथा साहित्य में आजादी के पहले एक बनते हुए आधुनिक भारतीय राष्ट्र के संदर्भ में हिंदी समाज के लोगों, खासकर पूरबिये लोगों, के पारंपरिक किसान मन और किसान जीवन के सामाजिक संबंधों पर पड़नेवाले असर को केंद्रीयता प्राप्त है। अब चूँकि पूरबिये मुख्य रूप से किसानी से जुड़े हुए थे इसलिए स्वाभाविक है कि प्रेमचंद साहित्य में किसानों को प्रमुखता प्राप्त है। यह भी सच है कि यद्यपि प्रेमचंद जिस समय साहित्य में शुरू हो रहे थे, उस समय हिंदी साहित्य के मुख्य स्वर का सचेत संबंध प्रगतिशीलता से नहीं था। उसके पहले के साहित्य में प्रगतिशीलता के जो तत्त्व पाये जाते हैं उनका संबंध मनुष्य के अंतश्चेतन में बसे सामान्य प्रगतिशील तत्त्वों से ही अधिक है।

यद्यपि भारतीय साहित्य में यथार्थवादी रुझान का आना उस समय ही प्रारंभ हो गया था। यथार्थवादी रुझान के इस आग्रह की तार्किक परिणति के रूप में प्रगतिशीलता के लिए

साहित्य में जगह बनने लगी थी। भीष्म साहनी जब साहित्य में आये तब उनके पास यही अनुभव था कि ‘हमारे यहाँ भारत में साहित्य, उन्नीसवीं शताब्दी से ही यथार्थोन्मुख होने लगा था। इसकी एक कड़ी बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, फिर भारतेंदु और फिर प्रेमचन्द आदि थे।’[6] प्रगतिशीलता के लिए सबसे बड़ी चुनौती होती है, आपने पास उपलब्ध समृद्ध विचार के प्रत्यक्ष विनियोग से बचना और यथार्थ के आविष्कार में विचार के दबाव से अपनी दृष्टि को बचाना। अर्थात अपने पास उपलब्ध विचार और जीवन अनुभव के बीच की फाँक में से रचना को बना ले जाना। ‘सँभल के बाबू’ के नत्थू को भी समाजवादी विचार के हवाले से समझाया जाता है। बेटे की तरह मानने का विश्वास दिलाया जाता है, कहा जाता है कि ‘इससे बेहतर घर तुम्हें नहीं मिलेगा। यहाँ तुम्हें हर तरह का आराम है। मैं स्वयं समाजवादी विचारों का आदमी हूँ। मैंने सदा तुम्हें अपने बेटों के समान माना है।’[7]

नत्थू को ही नहीं ‘साग-मीट’ के जग्गा को भी ‘ये’ बेटे की ही तरह मानते थे। बेटे की तरह मानने का मतलब ‘जैकी’, हाँ-हाँ उसी कुत्ते की तरह मानना, उसे ‘हाथ में करना’ है। ‘जैकी’ को भी मोह हो गया और ‘जग्गा’ को भी हो गया! यह मोह बुरी चीज है! इस ‘मोह’ में पड़कर ‘जैकी’ अपनी ही निजी गाड़ी से कुचलकर मर जाता है और ‘जग्गा’ मरता है सरकारी रेल से कटकर! जग्गा को नहीं जानते! जग्गा को जानना जरूरी है!

‘और जग्गा भी ऐसा, जैसे जंगल से हिरन पकड़ लाए हों। बड़ी-बड़ी आँखें, हिरन की तरह हैरान-सा देखता रहता। वही बात हुई। जग्गे को मोह हो गया। पर यह छोटी उम्र में होता है। बड़े-बड़े मुस्टण्डे नौकर, जो सड़कों पर घूमते हैं, इन्हें क्या मोह होगा। बच्चे कोमल होते हैं, जैसा सिखाओ सीख जाते हैं। जानवर सीख जाते हैं, तो ये क्यों न सीखेंगे? इन्हें बस में करने के बड़े ढंग आते हैं।

तुम्हें जैकी की याद है ना? हाय, तुम जैकी को भूल गये ? जैकी कुत्ता, जिसे ये एक दोस्त के घर से उठा लाए थे, सभी को भूँकता फिरता था। पर इन्होंने उसे ऐसा हाथ में किया, इन्हीं के कदमों में चक्कर काटता फिरता था। उसे भी ऐसा ही मोह पड़ गया था। इनके साथ, मैं तुम्हें क्या बताऊँ दफ्तर से इनके लौटने का वक्त होता, तो जैकी के कान खड़े हो जाते। बाहर सारा वक्त दसियों मोटरें दौड़ती रहतीं, पर जिस वक्त इनकी मोटर आती, तो उसे झट से पता चल जाता और भागकर बाहर पहुँच जाता। सीधा गेट पर जा पहुँचता। वहीं पर एक दिन अपनी ही गाड़ी के नीचे कुचला गया। यह मोह बहुत बुरी चीज है।’[8]

और .....

‘थोड़ी देर बाद पड़ोस वाले नौकर ने चिल्लाकर कहा – ‘जग्गा मारा गया है। जग्गा गाड़ी के नीचे कुचला गया है।’

मेरा दिल बुरी तरह से धक्-धक् करने लगा। उसके साथ उंस थी ना। वह तो जैसे घर का आदमी था, कोई पराया थोड़े ही था। ये तो उसके साथ बेटे जैसा सुलूक करते थे। वह भी इन्हें बाप की तरह मानता था। यही चीज उसे अंदर-ही-अंदर खा गई।'[9]

'जग्गा', 'जैकी' और 'नत्थू' की आजादी और राष्ट्रीयता

यह हमारे समय का यथार्थ है कि 'जग्गा' अब 'जैकी' की तरह नहीं, पहलेवाले नत्थू की तरह भी नहीं, बल्कि दूसरेवाले 'नत्थू' की तरह बनने लगा है। अब उसे मोह में बँधनेवाले 'बेटे' जैसा सम्मान नहीं दायित्व निभानेवाले 'नौकरों' जैसे अधिकार का बोध हो गया है। 'घरेलू यूनियन' के सेक्रेटरी की बात सुनकर अपने 'समाजवादी विचार' के होने का आश्वासन देनेवाले का मुँह खुला का खुला ही रह जाता है! पाठक सोचने लगता है कि क्या समाजवाद का विचार एक दयालू विचार है? जिसमें दया और दान के लिए तो थोड़ी बहुत गुंजाइश तो हो सकती है, लेकिन अधिकार पाने के संगठित प्रयास को वह अपने अधिकार पर आघात मानता है! 'प्रबंध गुरू' आजकल अपनी पूरी 'बौद्धिक सदाशयता' और 'व्यावसायिक ईमानदारी' के साथ मानव कल्याण की व्यापक प्रेरणाओं के साथ रोजगार के क्षेत्र में 'हायर-फायर' के औचित्य-सिद्धांत के प्रतिपादन को सार्थक बनाने में लगे हैं! भारत में नागरिकों के सारे-के-सारे मौलिक अधिकार अपनी जगह पर संविधान में अपनी पूरी पवित्रता और उदारता के साथ कायम और अक्षुण्ण हैं। पवित्रता और उदारता की सघन छाया में मध्य और उच्च-मध्यवर्गीय परिवार में इस 'मोह' और 'अधिकार' की जोरदार रस्साकशी भी चल रही है! इस रस्साकशी से सामाजिक रिश्तों के रेशों में आये तनाव से बहुआयामी शोषण और प्रतिशोध, अपराध और प्रति-अपराध की नई-नई कहानियाँ सामने आती रहती है। दुखद यह कि आज अपने 'समाजवादी विचार' के होने का आश्वासन देनेवाले तो बहुतेरे हैं लेकिन इस जहरखुरानी आश्वासन देनेवाले का 'नशा' उतारनेवाले प्रेमचंद और 'सँभल के बाबू' की चेतावनी देनेवाले भीष्म साहनी की निरंतर कमी होती जा रही है।

कहना न होगा कि न तो यथार्थवाद ही कोई ठहरी और बनी-बनाई अवधारणा है और न प्रगतिशीलता ही कोई जड़ अवधारणा है। जाहिर है यथार्थवाद के प्रति रचनात्मक बरताव में और प्रगतिशीलता के विचारधारात्मक विनियोग के संदर्भ में प्रेमचंद के सामने जिस प्रकार की चुनौतियाँ थी, भीष्म साहनी के सामने उससे भिन्न प्रकार की चुनौतियाँ भी थीं। इसका अनुमान इस संदर्भ से भी लगाया जा सकता है कि प्रेमचंद के सामने देश-विभाजन की चुनौती की एक बहुत ही धुँधली-सी आशंका थी साथ ही तमाम पगबाधाओं के बावजूद 'देश निर्माण' का चमकता हुआ सपना भी था, जबकि भीष्म साहनी के समय तक आते-आते देश-विभाजन एक भयावह घटना के रूप में प्रकट हो चुका था साथ ही 'देश निर्माण' का चमकता हुआ सपना भी विकलांग हो गया था। इस देश-विभाजन का भीष्म साहनी के

रचनात्मक व्यक्तित्व पर गहरा असर है। सच तो यह है कि इस देश-विभाजन के विविध प्रसंगों के कारण विछोह और अचानक घटित भौतिक परिवर्तन के कारण मानवीय संबंधों में पड़नेवाली गहरी दरार की पड़ताल का जो रचनात्मक निभाव भीष्म साहनी की कथा वस्तु के चयन और विन्यास में हुआ वह हिंदी साहित्य में अभूतपूर्व है।

'चित्र अपने सामने पाकर बच्चा देर तक उसे ध्यान से देखता रहा, फिर तर्जनी उठाकर चित्र पर रखते हुए ऊँची आवाज मे बोला: 'पिता जी !'

और फिर तर्जनी को कौशल्या के चेहरे पर रखकर उसी तरह चिल्लाकर बोला: 'माता जी!'

मजिस्ट्रेट ने दूसरा चित्र बच्चे के सामने रख दिया।

बच्चे का चेहरा खिल उठा और वह चहककर बोला: 'अब्बाजी! अम्मी!'

शकूर के दिल में उल्लास की लहर-सी दौड़ गई।'[10]

यथार्थवादी और प्रगतिशील साहित्य के सचेत लेखन के सामने कई तरह की चुनौतियाँ रही हैं। इनमें से अधिकतर चुनौतियाँ आज भी जीवित हैं। पाठक न तो विचार को अपनाने के लिए साहित्य से अपना संबंध बनाता है और न यथार्थ को जानने के लिए। पाठक साहित्य से संबंध बनाता है अपने विचार, जो कई बार विचार न होकर उसके पूर्वग्रह ही होते हैं, के सहमेल में अपने जीवन में वर्तमान यथार्थ की परिधि से निकलकर आकांक्षित यथार्थ के सहमेल में बुने गये सपनों की दुनिया के 'यथार्थेतर' में चुपके से अंतरण कर जाने के लिए। महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली साहित्य अपने पाठक के पास पहले से उपलब्ध विचार या पूर्वग्रह को बिना चोटियाये उसे सपनों की उस आकांक्षित दुनिया में ले जाने का विधान रचता है और पूरी तरह से सावधान रहता है कि उसका पाठक जब सपनों की दुनिया के 'यथार्थेतर' से फिर यथार्थ की दुनिया में लौटे तो उसके पास एक बदली हुई दृष्टि हो। 'यथार्थेतर' से गुजरने के बाद हासिल इस बदली हुई दृष्टि से जब पाठक अपने विचार और यथार्थ को देखे तो उसे देखने में चुपके से एक बड़ा अंतर घटित हो चुका हो। जैसे कमाने के लिए बाहर गया हुआ नौजवान जब कमाकर अपने गाँव लौटता है तो वह वही नौजवान नहीं होता है जो कमाने के लिए गया था और न गाँव ही उसकी नजर में वही रह जाता है जिसे छोड़कर वह कमाने गया हुआ था। हालाँकि वह कमाने गया था, बदलने नहीं! लेकिन चुपके से एक बदलाव के हो जाने से कौन इंकार कर सकता है! यही बदालाव साहित्य का जादू है!

इस अर्थ में भीष्म साहनी का कथा साहित्य पाठक के लिए जीवन के अंतर्विरोधों के बीच से आस्वाद और संघर्ष के नये अवसर प्रदान करता है। यथार्थवादी और प्रगतिशील नये लेखकों के द्वारा आजमाये जाने के लिए साहित्य में आस्वाद और संघर्ष के नये-नये अवसरों को

बनाने के लिए कारगर कौशल की ओर भी संकेत करता है। भीष्म साहनी का साहित्य आज हमारे लिए इतिहास का दर्जा भी रखता है। कहना न होगा कि इतिहास चाहे जितना भी मुखर क्यों न हो उससे सिर्फ संकेत ही मिल सकते हैं, कारगर कौशल तो हमें खुद ही अर्जित करना होता है। भीष्म साहनी के कथा साहित्य के महत्त्व को इतिहास की जानी-पहचानी, लेकिन अनसुनी, कराहों के संदर्भ में महसूस किया जा सकता है। समाज को सौंपे जानेवाले माँगपत्र में इन कराहों के बदलते जाने के संदर्भ में भी भीष्म साहनी के कथा साहित्य के महत्त्व को पढ़ा जा सकता है।

भीष्म साहनी इस बात को समझते थे कि 'जीवन के यथार्थ और साहित्य के यथार्थ में एक अंतर होता है। वास्तविकता की झलक तो साहित्य में जरूर मिलती है, पर साहित्य मूल्यों से जुड़ा होता है। इसीलिए आदर्शवादिता के लिए साहित्य में तो बहुत बड़ा स्थान होता है, पर व्यावाहारिक जीवन में नहीं। इन मूल्यों में मानवीयता सबसे बड़ा मूल्य है। इस दृष्टि से साहित्य यथार्थ से जुड़ता हुआ भी यथार्थ से ऊपर उठ जाता है, लेखक यथार्थ का यथावत चित्रण करते हुए भी पाठक को यथार्थेतर स्तर तक ले जाता है जहाँ हम यथार्थ जीवन की गतिविधि को मूल्यों की कसौटी पर आँकते हैं। जीवन को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। इन में सच्चाई के अतिरिक्त न्यायपरता और जनहित, और मानवीयता आदि भी आ जाते हैं। मात्र यथार्थ की कसौटी पर सही साबित होनेवाली रचना हमें आश्वस्त नहीं करती। उसमें मानवीयता तथा उससे जुड़े अन्य मूल्यों का समावेश आवश्यक होता है। और रचना जितना ऊँचा हमें ले जाए, जितनी विशाल व्यापक दृष्टि हमें दे पाए उतनी ही वह रचना हमारे मूल्यवान होगी।'[11]

आधुनिकता, साहित्य और जीवन का अंतस्संबंध

साहित्य और जीवन के अंतस्संबंधों के विविध स्तरों पर जो लेखक जितना प्रदूषणमुक्त आवाजाही कर सकता है, यथार्थ और यथार्थेतर की अंतरंग यात्राएँ कर सकता है, साहित्य और जीवन के बीच की जमीन पर जो लेखक जितनी पहल कर सकता है, वह लेखक अपने लेखन में जीवन और साहित्य के संबंधों में सकारात्मक सामंजस्य को भी उतना ही अधिक हासिल करता है। जीवन के यथार्थ और साहित्य के यथार्थ में अंतर है तो उसका सीधा-सा और समझ में आनेवाला कारण यह है कि 'साहित्य में और जीवन में बहुत बड़ा अंतर भी है। साहित्य में भावनाएँ प्रमुख होती हैं, यदि साहित्य जीवन के यथार्थ से हमारा साक्षात भी कराता है तो मुख्यत: भावनाओं के माध्यम से। पर जीवन का व्यवहार मात्र भावनाओं के आधार पर नहीं चलता वहाँ अपना हित, स्वार्थ, व्यवहारकुशलता, निर्मम होड़ की भावना आदि सब काम आते हैं।'[12] जीवन के यथार्थ और साहित्य के यथार्थ में अंतर चाहे जितना बड़ा हो, लेकिन सच यह है कि साहित्य और 'कहानी की मूल प्रेरणा जीवन से ही मिलती है। कहीं न कहीं, कोई जाना-पहचाना पात्र, कोई वास्तविक घटना उसकी तय (तह) में रहते हैं।

पूर्णत: कल्पना की ऊपज कहानी नहीं होती, कम से कम मेरा ऐसा ही अनुभव है, जिंदगी ही आपको कहानियों के लिए कच्ची सामग्री जुटाती है, जहाँ हम समझते हैं कि कहानी हमने मात्र अपनी ''सोच'' में से निकाली है, वहाँ भी उसे किसी न किसी रूप में जीवन का ही कोई संस्कार अथवा प्रभाव अथवा अनुभव का ही कोई निष्कर्ष उत्प्रेरित कर रहा होता है।'[13] क्योंकि 'साहित्य सामाजिक जीवन की ही ऊपज होता है, और समाज के लिए ही उसकी सार्थकता भी होती है। लेखक के लिए यह अनुभूति भी बड़ी संतोषजनक होती है कि कहाँ पर जीवन की गहराई में उतर पाया है, मात्र छिछले पानी में ही नहीं लोटता रहा, कहीं जीवन के गहरे अंतर्द्वंद्व को पकड़ पाया है। उस अंतर्विरोध को, जो हर युग और काल में समाज के अंदर पाए जानेवाले संघर्ष की पहचान कराता है, उन शक्तियों की भी जो समाज को यथास्थिति में बनाए रखना चाहती हैं, दूसरी ओर उन तत्त्वों को भी जो समाज को आगे ले जाने में सक्रिय हैं, इस अंतर्विरोध को पकड़ पाना कहानी लेखक के लिए एक उपलब्धि के समान होता है।'[14]

आधुनिकता को लेकर हिंदी में विभिन्न प्रकार की अवधारणाएँ हैं। इन अवधारणाओं को लेकर गहरे मतभेद और टकराव भी हैं। आधुनिकतावादियों के 'आधुनिकता बोध' और प्रगतिशील लोगों के 'आधुनिकता बोध' में यह टकराव सबसे तीखा है। विचार के क्षेत्र में उत्तर-आधुनिकता के तर्कों के आ धमकने से इस टकराव का तीखापन कम नहीं हुआ, बल्कि बढ़ ही गया है। इसका असर आधुनिक समय के लेखकों के बीच रचनात्मक कौशल में भी हुआ है। अपने-अपने तर्कों को सत्य और सारगर्भित बताने के लिए रचनाविधान की विभिन्न बुनावटें भी सामने लाई गई हैं। तर्क जब तक जीवन अनुभव को अपना आधार मानकर आगे बढ़ते हैं तब तक मूल्यवान उपकरण बने रहते हैं। लेकिन जैसे ही वे जीवन अनुभव के अपने आधार को छोड़कर आप्त वचनों का आधार ग्रहण करने लगते हैं किसी-न-किसी बिंदु पर जाकर जीवन के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। जाहिर है, इस प्रकार के तर्क और प्रति-तर्क में सबसे अधिक क्षतिग्रस्त जीवन अनुभव ही होता है। जीवन के वास्तविक अंतर्विरोध छूट जाते हैं और एक प्रकार के नकली अंतर्विरोध और अंतर्बोध सामने आ जाते हैं। भीष्म साहनी इस मूल बात को न सिर्फ बोध के आधार पर समझते थे, बल्कि अपनी रचनाओं को संभव करने में, उसमें आधुनिकता के उत्तम तत्त्वों के अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इस ओर से सावधान भी रहते थे। वे मानते थे कि 'यदि आप जीवन को उसके अंतर्विरोधों के परिप्रेक्ष्य में देख रहे हैं तो आपकी कहानी में आधुनिकता आएगी ही, यह अनिवार्य है, क्योंकि जीवन के भीतर पाया जानेवाला अंतर्विरोध वास्तव में जीवन को बदलनेवाली शक्तियों और जीवन को यथावत बनाए रखनेवाली शक्तियों के बीच ही विकट संघर्ष का रूप लेता है, और इस तरह युगबोध के स्वर अपनेआप ही उसमें से फूट-फूट पड़ते हैं, पर यदि आप आधुनिकता को भाषा, शैली, शिल्प के प्रयोगों के या फिर मात्र सैक्स के उन्मुक्त प्रदर्शन से जोड़ते हैं, और इन तत्त्वों को कहानी में इसलिए लाने की कोशिश करते हैं कि वह आधुनिक भवबोध की कहानी कहला सके, तो मैं समझता हूँ, यह अपने को धोखा देने वाली बात है।'[15]

जीवन को बदलनेवाली शक्तियों और जीवन को यथावत बनाए रखनेवाली शक्तियों के बीच के विकट संघर्ष में भीष्म साहनी का रचनात्मक संघर्ष जीवन को बदलनेवाली शक्तियों के सातत्य में ही आगे बढ़ता है। इन्हीं कारणों से उनकी कहानियों में व्यापक सार्थकता है। 'अपने तयीं मुझे ऐसी कहानियाँ पसन्द हैं, जिनमें अधिक व्यापक स्तर पर सार्थकता पाई जाए। व्यापक सार्थकता से मेरा मतलब है कि अगर उनमें से कोई सत्य झलकता है तो वह सत्य मात्र किसी व्यक्ति का निजी सत्य ही न बनकर बड़े पैमाने पर पूरे समाज के जीवन का सत्य बनकर सामने आए, जहाँ वह अधिक व्यापक संदर्भ ग्रहण कर पाए, किसी एक की कहानी न रहकर पूरे समाज की कहानी बन जाए, जहाँ वह हमारे यथार्थ के किसी महत्त्वपूर्ण पहलू को उजागर करती हुई अपने परिवेश में सार्थकता ग्रहण कर ले। ऐसी कहानी मेरी नजर में अधिक प्रभावशाली और मत्त्वपूर्ण होती है।'[16] क्या अब यह अलग से कहने की जरूरत है कि 'साग-मीट' का 'जग्गा' हो या फिर 'सँभल के बाबू' का 'नत्थू' हो ये सिर्फ कथा के पात्र या कथा के उपरांत एक व्यक्ति ही नहीं होते हैं बल्कि अपने समाज का एक पक्ष बनकर उभरते हैं। अपने समाज का पक्ष बनकर उभरना ही उन्हें महत्त्वपूर्ण बनाता है।

सच यह भी है कि 'गंगो' का जीवन आजादी के इतने दिनों बाद भी वैसा ही है! कुछ कहानी में है और कुछ कहानी के बाहर है! महिला सशक्तीकरण और बाल मजदूरी मिटाने के सारे संकल्प धरे-के-धरे रह गये हैं। 'रंगभूमि' को जलानेवाले काश कि रीसा को भाग्य की क्रूर गोद में सोने की मजबूरी से बाहर निकाल पाने की पहल करनेवाले उस संघर्ष के उन्नायक बनते। नन्हा-सा रीसा जीवन की एक बड़ी मंजिल एक ही दिन में लांघ गया! और गंगो? जीवन की एक मंजिल की धँसान के मलवे में दब गई !

'आधी रात गये, नन्हा रीसा, जीवन की एक पूरी मंजिल एक दिन में लांघ कर अपने सिर के नीचे ब्रुश और पालिश की डिबिया और एक छोटा-सा चिथड़ा रखे, उसी बाराण्डे के नीचे अपनी यात्रा के नये साथियों के साथ भाग्य की गोद में सोया पड़ा था।'[17]

क्या वह बारण्डा हमारे देश के न्याय का चबूतरा है? और वह चिथड़ा? हमारे देश के कानून की किताब! क्या पालिश की डिबिया रौशनाई की दबात है और ब्रुश कलम! जिनके सहारे लेकर रीसा जूते पर अपनी जिंदगी के पाठ की बारह खड़ी को गलत लिखने के जुर्म में मार खाता है। अभी भारत में बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लग गया है, क्या जीवन की मंजिल लाँघते हुए 'रीसों' के जीवन को अर्थ हासिल होगा।

विभाजन और विभाजन ... और विभाजन

वक्त की गाड़ी निकल गई और भारत की संतानों की मातृभूमि दो भागों में बँट गई। सिर्फ मातृभूमि ही नहीं बंटी माँ भी बंट गई: माता-विमाता।

‘गाड़ी निकल गई। एक-एक करके कुली स्टेशन के बाहर चले गए। प्लेटफार्म पर मौन छा गया। हवलदार अपनी गश्त पर दूर प्लेटफार्म के दूसरे सिरे तक पहुँच चुका था; लेकिन छड़ी झुलाता हुआ वापस लौटा, तो प्लेटफार्म के एक कोने में दीवार के साथ सटकर वही दोनों औरतें बैठी थीं। बनजारन अपनी गोद में बच्चे को लिटाए, उसे अपने आँचल से ढके, दूध पिला रही थी ओर पास बैठी बच्चे की माँ धीरे-धीरे लाड़ले के बाल सहला रही थी।’[18]

माता-विमाता की गोद क्या उस बाराण्डे से भिन्न है। ‘अमृतसर आ गया ...’ एक ऐसी कहानी है जो सिर्फ देश-विभाजन की नहीं मन के विभाजन की अद्‌भुत कहानी है। रेल के ही नहीं जिंदगी के सफर का भी यही अनुभव आम है।

‘जितनी देर कोई मुसाफिर डब्बे के बाहर अंदर आने की चेष्टा करता रहे, अंदर बैठे मुसाफिर उसका विरोध करते हैं। पर एक बार जैसे-तैसे वह अंदर आ जाए तो विरोध खत्म हो जाता है, वह मुसाफिर जल्दी ही उब्बे की दुनिया का निवासी बन जाता है। अगले स्टेशन पर वही सबसे पहले बाहर खड़े मुसाफिरो पर चिल्लाने लगता है, नहीं है जगह अगले डिब्बे में जाओ ... घुसे आते हैं ...’ [19]

हर मुकाम पर कोई-न-कोई इसी तरह मार खाता है। चलती ट्रेन से धक्का मारकर गिरा दिया जाता है। कोई-न-कोई चीखता है। किसी-न-किसी का ‘हरिवंशपुरा’ छूटता है, किसी-न-किसी का ‘अमृतसर’ आ जाता है!

विकास के साथ मनुष्य का मन बदलने लगा। त्याग और बलिदान के बदले जीवन में लोभ और भोग का व्यक्तिवादी वर्चस्व बढ़ने लगा। व्यक्तिवाद का दबाव जितना बढ़ता गया व्यक्तित्व का प्रसार उतना ही संकुचित होने लगा। सामाजिक दृष्टि से यह शुभ लक्षण नहीं माना जा सकता है। आधुनिक विकास की संरचना का स्वरूप पिरामिड की तरह बना। इस विकास में ‘एक के साथ एक’ नहीं ‘एक के ऊपर एक’ के विकास का ही ढाँचा बनता है। पढ़े-लिखे लोगों में एक विचित्र किस्म की आपाधापी शुरू हो गई। ‘सबके साथ’ नहीं ‘सबके आगे’ निकल जाने की होड़! यह बिलकुल नई बात नहीं है। इसकी शुरुआत को तो प्रेमचंद ने भी लक्षित किया था। ‘जिस देश के शिक्षित युवक इतने मंदोत्साह हों, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता।’[20] एक सामाजिक वर्ग के रूप में मध्यवर्ग और समकालीन साहित्यिक विधा के रूप में हिंदी कहानी का जन्म लगभग साथ-साथ होता है।

हिंदी कहानी ने शुरू से ही मनुष्य के बदलते मन की संवेदना को समझना और रचना में उतारना शुरू कर दिया था। भीष्म साहनी की ‘चीफ की दावत’ ऐसी ही एक कहानी है। यह कहानी शामनाथ के माध्यम से उस मध्यवर्ग के चरित्र को हमारे सामने रखती है जिसका ‘संतोष-सेतु’ टूट गया है और ‘इच्छा का बहाव अपरिमित’ हो गया है। इच्छा के अपरिमित बहाव में उसके सारे मूल्य विगलित होकर बहे जा रहे हैं। घर में माँ-बाप के लिए जगह नहीं

है। सारे रिश्तेदार दूर के होकर रह गये हैं। लोभ की चपेट में फँसकर ऐसा समाज विकसित होता जा रहा है जिसमें न बूढों के लिए सच्चा आदर बचा है न बच्चों के लिए सच्चा स्नेह। ऐसा समाज न सिर्फ परंपराओं की अच्छाइयों से विमुख होता है बल्कि भविष्य के गर्भ में छिपी अच्छाइयों को ठीक से सम्हालने का विवेक भी खो देता है। प्रेमचंद की कहानी में रिश्तों की सामाजिकता का जो यथार्थ 'काकी' के माध्यम से प्रकट हुआ था वह विकसित होकर भीष्म साहनी की कहानी में 'माँ' के माध्यम से प्रकट हुआ। तीव्र गति-मति में बहता हुआ मन न ठहरना चाहता है, न कुछ सोच-विचार करना चाहता है। मोह में फँसने से बचने के लिए 'साग-मीट' कहानी 'जग्गाओं' को उनकी अनिवार्य तार्किक परिणति के प्रति सचेत करती है तो 'शामलालों' के लोभी मन को 'चीफ की दावत' लज्जित करती है। सवाल पूछती है कि 'माँ का क्या होगा।' उस माँ का जो कहीं हमारी हठधर्मिता के कारण 'माता-विमाता' में बंट गई है, तो कहीं 'गंगो' बनकर रह गई है। इस सवाल का जवाब हमें देना है। इस जवाब पर ही यह भी निर्भर करता है कि हमारा क्या होगा। आज के उत्तर-आधुनिक समय में बाजारवाद अपने लावलश्कर के साथ हमारे घर में घुसकर रिश्तों की संवेदनाओं को भी पण्य बनाता जा रहा है। ऐसे विपणनकारी समय में पारिवारिक नैतिकता के स्रोत को सूखने से बचाना जरूरी है। जीवन में जरूरी लज्जा-बोध को जिलाये रखने के लिए भीष्म साहनी की कहानियाँ जीवन के अंतर्विरोधों की गहराई में जाकर पूरी प्रामाणिकता के साथ उठाती है।

भीष्म साहनी ध्यान दिलाते हैं कि 'धीरे-धीरे अपने विशेष आग्रहों के अनुरूप लिखते हुए लेखक का छोटा-मोटा व्यक्तित्व – सर्जनात्मक व्यक्तित्व – बनने लगता है। उसकी रचनाओं में कुछेक विशिष्टताओं की झलक मिलने लगती है। यही विशिष्टताएँ उसकी पहचान बन जाती हैं। परंतु धीरे-धीरे वही विशिष्टता उसकी सीमा भी बनने लगती है। एक ही तरह की कहानियाँ लिखते हुए वह अपने को दोहराने भी लगता है, उसकी रचनाओं से एक ही प्रकार की ध्वनि सुनाई देने लगती है। पहले जो उसकी विशिष्टता थी वही अब उसका ढर्रा बन चुकी होती है। लेखक के लिए यह स्थिति बड़ी शोचनीय होती है। नई जमीन को तोड़ना, जिंदगी नये-नये मोड़ काटती रहती है, उसके प्रति जागरुक रहना, विचारों के धरातल पर जड़ता को न आने देना, यह भी लेखक के लिए उतना ही बड़ा दायित्व होता है, यह भी सत्य के अन्वेषण और सत्य की खोज का अंग है।'[21] समृद्ध विचारधारा और निष्कंप प्रतिबद्धता का सुरक्षा कवच छोड़कर रचना के मैदान में निष्कवच होकर खड़ा होना क्या कम दिलेरी की बात है। इस दिलेरी के आशय को बार-बार पढ़े जाने और हासिल किये जाने की जरूरत है। तभी हम एक पाठक के रूप में भीष्म साहनी की कहानियों में काल-प्रवाह के साथ उभरती हुई सार्थकता की नई जमीन पर पैर टिका सकेंगे। साथ ही, एक लेखक के रूप में नये-नये मोड़ काटती जिंदगी की सार्थक और प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए रचना की नई जमीन हासिल करते हुए, हम शायद तभी, अपने अबांछित दुहरावों से भी बच सकेंगे। जिंदगी को सिर्फ पण्यशील देह के मुहावरे में ही नहीं, मन और प्राण की अतल गहराइयों की तह और सतह से भी हासिल कर सकेंगे। लेकिन 'होने-सोने' के कोलाहल भरे समय में इसके

लिए भी क्या कम दिलेरी चाहिए! दिलेरी चाहिए इस कोलाहल से बचने और यह सोचने के लिए कि माँ का क्या होगा।

संदर्भः

1भीष्म साहनी : दो शब्द : मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एंड सन्ज़ : 1983
2भीष्म साहनी : मेरी कथा-यात्रा के निष्कर्ष : दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
3भीष्म साहनी : मेरी कथा-यात्रा के निष्कर्ष : दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
4भीष्म साहनी : मेरी कथा-यात्रा के निष्कर्ष : दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
5भीष्म साहनी : दो शब्द : मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एंड सन्ज़ : 1983
6भीष्म साहनी : मेरी कथा-यात्रा के निष्कर्ष : दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
7भीष्म साहनी : सँभल के बाबू
8भीष्म साहनी : साग-मीट
9भीष्म साहनी : साग-मीट
10 भीष्म साहनी : पाली
11भीष्म साहनी : मेरी कथा-यात्रा के निष्कर्ष : दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
12भीष्म साहनी : मेरी कथा-यात्रा के निष्कर्ष : दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
13भीष्म साहनी : दो शब्द : मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एंड सन्ज़ : 1983
14भीष्म साहनी : दो शब्द : मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एंड सन्ज़ : 1983
15भीष्म साहनी : दो शब्द : मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एंड सन्ज़ : 1983
16भीष्म साहनी : दो शब्द : मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एंड सन्ज़ : 1983
17भीष्म साहनी : गंगो का जाया
18भीष्म साहनी :माता-विमाता
19भीष्म साहनी : अमृतसर आ गया है ...
20प्रेमचंद : विविध प्रसंग : आजादी की लड़ाई :अप्रैल 1930
21भीष्म साहनी:मेरी कथा-यात्रा के निष्कर्ष:दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़: किताब घर 1994